Shodh Sangam Patrika
E-ISSN: 3049-0707, Volume 2 | Issue 4 | (Oct – Dec 2025)

भारतीय वाद्य-संगीत: सितार एवं बांसुरी में नवाचार और योगदान

कु. श्रेया सुचेता पटवर्धन [1], प्रो. डॉ. संगीता बापट [2]
[1] रिसर्च स्कॉलर, श्री. ना. दा. ठाकरसी महिला विद्यापीठ, चर्चगेट, मुंबई
[2] मार्गदर्शक, संगीत विभाग प्रमुख, श्री. ना. दा. ठाकरसी महिला विद्यापीठ, चर्चगेट, मुंबई

सारांश

हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में वाद्य-संगीत का विकास केवल परंपरा का परिणाम नहीं, बल्कि महान कलाकारों की सृजनशील दृष्टि और तकनीकी प्रयोगों का प्रतिफल है। प्रस्तुत लेख में सितार और बांसुरी के विकास का अध्ययन करते हुए पं. रवि शंकर तथा पं. पन्नालाल घोष के योगदान को केंद्र में रखा गया है। सितार की संरचना, तार-व्यवस्था और ध्वनि-विस्तार में पं. रवि शंकर द्वारा किए गए परिवर्तन तथा दो तुंबों वाली सितार के प्रयोग का विश्लेषण किया गया है। साथ ही बांसुरी को लोकवाद्य से शास्त्रीय वाद्य के रूप में स्थापित करने में पं. पन्नालाल घोष द्वारा किए गए रचनात्मक और वादनात्मक परिवर्तनों, विशेष रूप से तीव्र मध्यम हेतु जोड़े गए सातवें छिद्र के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है। यह अध्ययन दर्शाता है कि इन कलाकारों के योगदान से भारतीय वाद्य-संगीत को नई दिशा और वैश्विक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

सूचक शब्द: हिंदुस्तानी वाद्य-संगीत, संरचना, सितार, बांसुरी, पं. रवि शंकर, पं. पन्नालाल घोष

प्रस्तावना

भारतीय शास्त्रीय संगीत की परंपरा हजारों वर्षों से विकसित होती आ रही है, जिसमें वाद्य-संगीत का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा है। वाद्य केवल एक साधन नहीं, बल्कि कलाकार की भावनाओं, संवेदनाओं और तकनीकी कौशल का प्रत्यक्ष माध्यम हैं। समय के साथ वाद्य-संगीत में निरंतर परिवर्तन हुआ है। प्रारंभिक वाद्य पारंपरिक रूप में सीमित स्वर और साधनों तक सीमित थे, लेकिन जैसे-जैसे कलाकारों ने नई तकनीकों और नवाचारों को अपनाया, वाद्य अधिक अभिव्यक्तिपूर्ण और रचनात्मक बने। सितार और बांसुरी, ये दोनों वाद्य हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत के स्तंभ माने जाते हैं। सितार का विकास प्राचीन वीणा परंपरा से प्रारंभ होकर मध्यकालीन फ़ारसी और तुर्की संगीतकारों के प्रभाव में आया। सितार ने दरबारी संगीत में अपने स्वर और विस्तार के साथ एक नया मुकाम पाया। वहीं बांसुरी, जो पहले लोकसंगीत और ग्रामीण परंपराओं में प्रयुक्त होती थी, ने पं. पन्नालाल घोष जैसे सृजनशील कलाकारों के योगदान से शास्त्रीय संगीत का एक महत्त्वपूर्ण वाद्य बनने की यात्रा तय की।

इस संदर्भ में कलाकारों का योगदान केवल तकनीकी सुधार या वाद्य के स्वरूप तक सीमित नहीं रहा। कलाकारों ने वाद्य की सांगीतिक अभिव्यक्ति, स्वर-संतुलन, रागानुसार स्वर-निर्माण और प्रस्तुति की शैली तक में परिवर्तन किया। पं. रवि शंकर ने सितार में तार-संरचना, दो तुंबों का प्रयोग और मींड की क्षमता में सुधार करके वाद्य की ध्वनि को अधिक समृद्ध और वैश्विक स्तर पर पहचान दिलाने योग्य बनाया। वहीं पं. पन्नालाल घोष ने बांसुरी को लंबा, मोटा और शास्त्रीय रागानुकूल बनाकर तथा सातवाँ छिद्र जोड़कर इसे गायकी अंग के लिए उपयुक्त बनाया। इस अध्ययन का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि सितार और बांसुरी में किए गए ये नवाचार न केवल वाद्य के स्वरूप में परिवर्तन थे, बल्कि इनसे भारतीय वाद्य-संगीत की अभिव्यक्ति, भावनात्मक गहराई और तकनीकी उत्कृष्टता को नई दिशा मिली। इस प्रकार, यह शोध पत्र यह दर्शाता है कि कलाकारों की रचनात्मक दृष्टि और नवाचार भारतीय संगीत की परंपरा को गतिशील बनाते हुए उसे आधुनिक मंच और वैश्विक मानकों के अनुकूल ढालते हैं।

उद्देश्य

इस शोध का मुख्य उद्देश्य यह है कि सितार और बांसुरी के ऐतिहासिक विकास और संरचना में हुए नवाचारों को समझना, तथा यह विश्लेषित करना कि पं. रवि शंकर और पं. पन्नालाल घोष जैसे महान कलाकारों ने इन वाद्यों में कौन-कौन से तकनीकी, संरचनात्मक और भावात्मक परिवर्तन किए। इस अध्ययन के माध्यम से यह स्पष्ट करना है कि इन नवाचारों ने हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में वाद्य-संगीत की प्रस्तुति, ध्वनि गुणवत्ता और वैश्विक पहचान को कैसे प्रभावित किया। साथ ही यह शोध संगीत की परंपरा और नवाचार के संगम को समझने, कलाकारों की रचनात्मक दृष्टि का मूल्यांकन करने और वाद्यों के तकनीकी सुधारों का महत्त्व उजागर करने में सहायक है।

शोध पद्धति

यह शोध गुणात्मक (Qualitative) और वर्णनात्मक (Descriptive) स्वरूप का है। इसमें संगीत विश्लेषण, जीवनचरित्र, वादन शैली और ऐतिहासिक संदर्भों के आधार पर तथ्यों का अध्ययन किया गया है। प्राथमिक स्रोतों में कलाकारों के वादन की रिकॉर्डिंग, ऑल इंडिया रेडियो के प्रसारण और साक्षात्कारों का उपयोग हुआ है। द्वितीयक स्रोतों में पुस्तकों का संदर्भ लिया गया है।

सितार : उत्पत्ति, ऐतिहासिक विकास, संरचना, वादन-पद्धति

सितार हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत का एक अत्यंत समृद्ध, विकसित और प्रतिष्ठित तंतुवाद्य है। भारतीय शास्त्रीय संगीत की परंपरा में इसे विशेष स्थान प्राप्त है। अपने मधुर, गूंजयुक्त और भावपूर्ण स्वर के कारण सितार को गायन के अत्यंत समीप माना जाता है। आधुनिक युग में यह वाद्य न केवल भारत में, बल्कि विश्वभर में भारतीय संगीत की पहचान बन चुका है। सितार की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में विभिन्न मत पाए जाते हैं। कुछ संगीतशास्त्री इसे फारसी वाद्य 'सेतार' से विकसित मानते हैं, जिसका अर्थ तीन तार वाला वाद्य होता है। यह मत है कि मुस्लिम शासकों के आगमन के साथ यह वाद्य भारत आया और यहाँ की संगीत परंपरा के प्रभाव से इसका स्वरूप परिवर्तित होता गया। दूसरी ओर अनेक विद्वान सितार को पूर्णतः भारतीय वाद्य मानते हैं और इसका विकास प्राचीन भारतीय तंतुवाद्यों जैसे वीणा, त्रितंत्री वीणा और कच्छपी वीणा से हुआ मानते हैं। भारतीय संगीत में मींड, गमक और रागात्मक विस्तार की आवश्यकता ने इसके विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अमीर खुसरो से सितार की उत्पत्ति को जोड़ने वाली धारणा भी प्रचलित है, किंतु इसके ठोस ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी यह स्वीकार किया जाता है कि अमीर खुसरो ने वाद्य संगीत की परंपरा को समृद्ध किया और तंत्रकारी शैली के विकास में योगदान दिया।

मध्यकाल में सितार का स्वरूप अपेक्षाकृत सरल था, किंतु समय के साथ इसमें अनेक परिवर्तन होते गए। मुगल काल में दरबारी संरक्षण मिलने से इसके वादन और निर्माण में निखार आया। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में इसकी संरचना अधिक वैज्ञानिक हुई और तरब के तारों का प्रयोग आरंभ हुआ। आधुनिक युग तक आते-आते सितार एक पूर्ण विकसित, सर्वगुण-संपन्न वाद्य के रूप में स्थापित हो गया। सितार की संरचना अत्यंत जटिल और संतुलित होती है। इसका मुख्य भाग तुम्बा होता है, जो प्रायः सूखी लौकी से निर्मित किया जाता है और ध्वनि को गूंज तथा गहराई प्रदान करता है। डण्डी लकड़ी की बनी लंबी और खोखली होती है, जिस पर परदे लगाए जाते हैं। इन परदों की विशेषता यह है कि इन्हें आवश्यकतानुसार स्थानांतरित किया जा सकता है, जिससे विभिन्न श्रुतियों और रागों की प्रस्तुति संभव हो पाती है। सितार में सामान्यतः छह या सात मुख्य तार होते हैं, जिनसे राग का स्वर-विस्तार किया जाता है। इनके नीचे ग्यारह से तेरह तक तरब या अनुनादी तार लगाए जाते हैं, जो मुख्य स्वरों के कंपन से स्वतः झंकृत होकर ध्वनि को व्यापक और प्रभावशाली बनाते हैं। जवाड़ी की भूमिका भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण होती है, क्योंकि इसके द्वारा स्वर की स्पष्टता और झंकार नियंत्रित होती है।

सितार वादन की पद्धति अत्यंत सूक्ष्म और साधना-प्रधान होती है। वादक दाएँ हाथ की तर्जनी में मिज़राब पहनकर तारों को झंकृत करता है, जबकि बाएँ हाथ से मींड, गमक और स्वर-संयोजन किया जाता है। सितार वादन में आलाप, जोड़ और झाला की परंपरा विशेष महत्त्व रखती है। मींड की लंबाई और स्वरों की निरंतरता सितार को अन्य तंतुवाद्यों से अलग पहचान देती है। यही विशेषता इसे गायन के निकट लाती है। सितार वादन में गायकी अंग और तंत्रकारी अंग दोनों का समन्वय देखने को मिलता है। गायकी अंग में स्वर विस्तार, भाव और राग की गंभीरता पर बल दिया जाता है, जबकि तंत्रकारी अंग में तानों, लयकारी और झालों का विशेष महत्त्व होता है। आधुनिक सितार वादन में इन दोनों शैलियों का संतुलित प्रयोग कलाकार की परिपक्वता को दर्शाता है।

सितार वादन की परंपरा में विभिन्न घरानों का विकास हुआ है। मैहर घराने में राग की गंभीरता, आलाप की विस्तारशीलता और संतुलित तंत्रकारी दृष्टिकोण देखने को मिलता है। इमदादखानी या इटावा घराने में गायकी अंग की प्रधानता और कोमल मींड की विशेषता पाई जाती है, जबकि बनारस घराने में लयकारी और झालों पर विशेष बल दिया जाता है। इन घरानों ने सितार वादन को विविध रंग और दृष्टिकोण प्रदान किए। आधुनिक युग में अनेक महान कलाकारों ने सितार को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठा दिलाई। पं. रवि शंकर ने इसे विश्व मंच पर स्थापित किया, पं. निखील बॅनर्जी ने गंभीर और ध्यानात्मक शैली को प्रतिष्ठित किया, उ. विलायत खान ने गायकी अंग को नई ऊँचाई दी, जबकि अन्य कलाकारों ने अपनी विशिष्ट शैली से इस वाद्य की समृद्धि को बढ़ाया। सांगीतिक दृष्टि से सितार का महत्त्व अत्यंत व्यापक है। यह वाद्य एकल वादन में संपूर्णता प्रदान करता है और संगति वाद्य के रूप में भी प्रभावी भूमिका निभाता है। इसकी ध्वनि में भारतीय दर्शन, साधना और सौंदर्यबोध का अद्भुत संगम देखने को मिलता है।[1]

सितार :- विकास और पं. रवि शंकर का योगदान

बीसवीं शताब्दी में पं. रवि शंकर ने सितार को तकनीकी, सौंदर्यात्मक और वैचारिक तीनों स्तरों पर नई दिशा दी। उन्होंने सितार की तार-संरचना में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए। पारंपरिक सितार में प्रयुक्त तारों की व्यवस्था को उन्होंने अधिक व्यावहारिक और रागानुकूल बनाया। मुख्य बजाने वाली तारों के साथ तरब तारों की संख्या बढ़ाई गई और उनकी ट्यूनिंग इस प्रकार की गई कि राग के स्वरों की अनुगूंज अधिक स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो सके। इससे सितार की ध्वनि अधिक समृद्ध और गूंजदार बनी। पं. रवि शंकर ने मींड की क्षमता बढ़ाने के लिए तारों की मोटाई और ऊँचाई में भी परिवर्तन किए, जिससे गायकी अंग को सितार पर प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया जा सका। आलाप, जोड़ और झाला की उनकी प्रस्तुति में एक विशिष्ट नाटकीयता और विस्तार दिखाई देता है। उन्होंने सितार को केवल तकनीकी कौशल का वाद्य न मानकर भावात्मक अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बनाया। अंतरराष्ट्रीय मंचों पर उनके प्रदर्शन ने सितार को वैश्विक पहचान दिलाई और भारतीय वाद्य-संगीत को विश्व-संगीत के मानचित्र पर प्रतिष्ठित किया।

पं. रवि शंकर ने जिस सितार का प्रयोग किया, उसमें दो तुंबों अर्थात दो भोपलों का प्रयोग एक महत्त्वपूर्ण संरचनात्मक परिवर्तन माना जाता है। परंपरागत सितार में मुख्य रूप से एक ही बड़ा तुंबा नीचे की ओर लगाया जाता था, जो ध्वनि के प्रतिध्वनन का प्रमुख स्रोत होता था। पं. रवि शंकर ने इस पारंपरिक संरचना में परिवर्तन करते हुए गर्दन के ऊपरी भाग में एक अतिरिक्त छोटा तुंबा जोड़ने की परंपरा को विकसित किया। यह अतिरिक्त तुंबा केवल सौंदर्यात्मक कारणों से नहीं, बल्कि ध्वनि-विस्तार और संतुलन की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुआ।

दो भोपलों वाली सितार से स्वर की गूंज अधिक स्थिर और संतुलित हो गई। ऊपरी तुंबे के कारण उच्च सप्तक के स्वरों में स्पष्टता और चमक आई, जबकि निचले तुंबे ने गंभीर स्वरों को भराव और गहराई प्रदान की। इस संरचना से लंबी मींड, आलाप और जोड़ की प्रस्तुति अधिक प्रभावी ढंग से संभव हुई। विशेष रूप से गायकी अंग को सितार पर साकार करने में यह परिवर्तन अत्यंत सहायक सिद्ध हुआ।

पं. रवि शंकर द्वारा दो तुंबों वाली सितार का प्रयोग केवल तकनीकी नवाचार तक सीमित नहीं रहा, बल्कि इसने वादन-शैली को भी प्रभावित किया। लंबी प्रस्तुतियों में वाद्य का संतुलन बेहतर हुआ, जिससे कलाकार को शारीरिक सुविधा मिली और प्रस्तुति में स्थायित्व आया। अंतरराष्ट्रीय मंचों पर, बड़े सभागृहों में बिना अत्यधिक प्रवर्धन के भी ध्वनि को स्पष्ट बनाए रखने में यह संरचना सहायक सिद्ध हुई। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पं. रवि शंकर द्वारा दो भोपलों वाली सितार का प्रयोग हिंदुस्तानी वाद्य-संगीत में एक व्यावहारिक और सौंदर्यात्मक परिवर्तन था।[2]

बांसुरी का इतिहास और उत्पत्ति

बांसुरी, भारतीय शास्त्रीय संगीत का एक अत्यंत महत्वपूर्ण वाद्य है, जिसकी मधुर और सजीव ध्वनि सदियों से लोगों के हृदय को छूती आई है। इसका उल्लेख प्राचीन वैदिक ग्रंथों और पुराणों में मिलता है, जिससे इसकी उत्पत्ति का समय लगभग पाँच से छह हजार वर्ष पूर्व माना जाता है। बांसुरी मुख्यतः बाँस या किसी अन्य लकड़ी के खोखले ट्यूब से बनाई जाती है, जिसमें विभिन्न छेद होते हैं, जिनके माध्यम से संगीतज्ञ स्वर उत्पन्न करता है। प्रारंभ में बांसुरी का प्रयोग मुख्यतः ग्रामीण जीवन, धार्मिक अनुष्ठानों और लोक संगीत में होता था। भारतीय पौराणिक कथाओं में भगवान कृष्ण को बांसुरी वादन करते हुए दर्शाया गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि बांसुरी न केवल संगीत का साधन है, बल्कि भक्ति, प्रेम और आध्यात्मिकता का प्रतीक भी रही है।

बांसुरी की उत्पत्ति से जुड़ी कई कथाएँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि मानव ने पक्षियों की मधुर ध्वनि से प्रेरणा लेकर इसका निर्माण किया। प्रारंभ में यह केवल लोक संगीत वाद्य था, लेकिन धीरे-धीरे इसका स्वरूप और तकनीक विकसित होती गई। मध्यकाल में बांसुरी को शास्त्रीय संगीत में शामिल किया गया और संगीतज्ञों ने इसे रागों और तालों के अनुसार वादन करने की तकनीक विकसित की। इस काल में बांसुरी ने शास्त्रीय संगीत में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया और इसे केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि गंभीर संगीत साधना के उपकरण के रूप में माना जाने लगा। आधुनिक काल में बांसुरी की प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई। पं. पन्नालाल घोष ने बांसुरी को शास्त्रीय संगीत में स्थापित किया और इसके वादन की तकनीक को नए आयाम दिए। उन्होंने बांसुरी में रागों की भावपूर्णता और उसकी सूक्ष्मताओं को प्रदर्शित किया, जिससे बांसुरी का स्वर और भी जीवंत और गहन हुआ। इसके बाद पं. हरिप्रसाद चौरसिया ने इसे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रस्तुत किया और इसकी वैश्विक पहचान सुनिश्चित की। उनकी शैली में तकनीकी निपुणता और भाव की गहनता दोनों का अद्भुत मेल देखने को मिलता है। पं. हरिप्रसाद चौरसिया ने भारतीय बांसुरी को विश्व संगीत में एक नया आयाम दिया और इसके स्वर की वैश्विक स्तर पर प्रशंसा हुई।

बांसुरी का निर्माण और स्वर तकनीक समय के साथ विकसित हुए। प्रारंभिक बांसुरी केवल बाँस से बनाई जाती थी, लेकिन अब विभिन्न लंबाई और व्यास की बांसुरी उपलब्ध हैं। लंबी बांसुरी से गहरे और गंभीर स्वर उत्पन्न होते हैं, जबकि छोटी बांसुरी तेज और मधुर ध्वनि देती है। आधुनिक तकनीक और धातु की बांसुरी ने वादन की संभावनाओं को और विस्तृत कर दिया है। बांसुरी का वादन सीखना गुरु-शिष्य परंपरा का हिस्सा है, जिसमें संगीतज्ञ न केवल तकनीक सीखते हैं, बल्कि रागों की भावनाओं और संगीत के सूक्ष्म पहलुओं को भी ग्रहण करते हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से बांसुरी का महत्व अत्यधिक है। यह केवल संगीत का साधन नहीं, बल्कि भारतीय जीवन, त्योहारों, मेलों और नृत्यों में आनंद और उल्लास उत्पन्न करने वाला वाद्य भी है। इसके स्वर बच्चों, युवाओं और वृद्धों सभी को समान रूप से आकर्षित करते हैं। प्राचीन साहित्य, लोकगीत और नाट्यशास्त्रों में बांसुरी का विशेष स्थान है। यह भारतीय संगीत परंपरा को जीवित रखने में सहायक रही है और इसके अध्ययन और वादन से संगीतविदों को रागों की गहन समझ प्राप्त होती है।

बांसुरी ने केवल भारतीय संगीत परंपरा में ही स्थान नहीं बनाया, बल्कि इसके स्वर और तकनीक का प्रभाव वैश्विक संगीत पर भी पड़ा। भारतीय बांसुरी के माध्यम से रागों की भावना और लयबद्धता पश्चिमी और एशियाई संगीत में भी

समाहित हुई। इस प्रकार बांसुरी न केवल एक वाद्य है, बल्कि भारतीय संस्कृति, भक्ति और संगीत का अभिन्न अंग है। इसके स्वर की मधुरता और भावपूर्णता आज भी संगीत प्रेमियों के लिए एक अद्वितीय अनुभव प्रदान करती है और भारतीय शास्त्रीय संगीत के गहन अध्ययन का एक अनमोल साधन बनी हुई है।[3]

पं. पन्नालाल घोष का योगदान -

पं. पन्नालाल घोष ने बांसुरी के स्वरूप और उसकी वादन-क्षमता में ऐसे परिवर्तन किए, जिनके कारण बांसुरी लोकवाद्य की सीमा से निकलकर हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत का एक प्रतिष्ठित वाद्य बनी। उनके पहले बांसुरी का आकार छोटा होता था, जिससे उसका स्वरविस्तार सीमित रहता था और मंद्र सप्तक के स्वर प्रभावी रूप से उत्पन्न नहीं हो पाते थे। पं. पन्नालाल घोष ने इस समस्या को समझते हुए लंबी और मोटे व्यास वाली बांसुरी का प्रयोग शुरू किया। इससे बांसुरी की ध्वनि में गंभीरता आई और निचले सप्तक के स्वर स्पष्ट एवं स्थिर रूप से सुनाई देने लगे। उन्होंने बांसुरी में छिद्रों की व्यवस्था पर भी विशेष ध्यान दिया। पारंपरिक बांसुरी में छिद्रों की स्थिति लोकसंगीत के अनुसार होती थी, जो शास्त्रीय रागों की शुद्धता के लिए पर्याप्त नहीं थी। पं. पन्नालाल घोष ने छिद्रों के स्थान और दूरी में परिवर्तन कर बांसुरी को शास्त्रीय स्वर-प्रणाली के अनुकूल बनाया। कुछ प्रयोगों में उन्होंने अतिरिक्त छिद्रों का भी उपयोग किया, जिससे स्वर-नियंत्रण अधिक सटीक हुआ और रागों की सूक्ष्मता को बेहतर ढंग से प्रस्तुत किया जा सका।

वादन शैली के स्तर पर पं. पन्नालाल घोष ने बांसुरी पर गायकी अंग को स्थापित किया। उन्होंने मींड, कण, गमक और स्वर-प्रवाह को इस प्रकार विकसित किया कि बांसुरी पर राग की भावपूर्ण और विस्तृत प्रस्तुति संभव हो सकी। उनके वादन में आलाप की गंभीरता और लयात्मक स्पष्टता दिखाई देती है, जिससे बांसुरी शास्त्रीय मंच पर स्वतंत्र रूप से प्रस्तुत होने योग्य बनी।

पं. पन्नालाल घोष द्वारा जो सातवाँ छिद्र जोड़ा गया था, वह कोमल निषाद के लिए नहीं, बल्कि विशेष रूप से तीव्र मध्यम के शुद्ध और स्थिर उच्चारण के लिए था। पारंपरिक छह-छिद्र वाली बांसुरी में तीव्र मध्यम को अर्ध-छिद्र तकनीक के माध्यम से निकाला जाता था। इस विधि में स्वर की शुद्धता पूरी तरह कलाकार की उँगलियों के नियंत्रण पर निर्भर रहती थी और लंबे आलाप या विलंबित प्रस्तुति में तीव्र मध्यम का स्वर अक्सर अस्थिर हो जाता था। पं. पन्नालाल घोष ने इस तकनीकी कमी को पहचाना और शास्त्रीय रागों की शुद्धता बनाए रखने के उद्देश्य से बांसुरी में अलग से सातवाँ छिद्र जोड़ा।

यह सातवाँ छिद्र इस प्रकार स्थित किया गया कि तीव्र मध्यम स्वर बिना अर्ध-छिद्र के, सीधे और पूर्ण नियंत्रण के साथ उत्पन्न हो सके। इससे कल्याण, यमन, मारवा, पूरिया, तोड़ी जैसे तीव्र मध्यम प्रधान रागों की प्रस्तुति में अभूतपूर्व स्पष्टता आई। स्वर अधिक स्थिर, उज्ज्वल और दीर्घकाल तक टिकने वाला बना। इस परिवर्तन के साथ पं. पन्नालाल घोष ने छिद्रों की आपसी दूरी, बांस की लंबाई और व्यास को भी संतुलित किया, ताकि अन्य स्वरों की शुद्धता प्रभावित न हो।[4]

निष्कर्ष –

सितार और बांसुरी दोनों ही हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत के महत्त्वपूर्ण वाद्य हैं। पं. रवि शंकर ने सितार में दो भोपलों और तार-संरचना में बदलाव करके उसकी ध्वनि और गायकी अंग को और प्रभावशाली बनाया। पं. पन्नालाल घोष ने बांसुरी में लंबाई, व्यास और छिद्रों में परिवर्तन कर उसे शास्त्रीय रागों के अनुकूल बनाया, विशेषकर सातवाँ छिद्र जोड़कर तीव्र मध्यम स्वर को स्पष्ट और स्थिर बनाया। इन नवाचारों ने वाद्यों की तकनीकी क्षमता, ध्वनि गुणवत्ता और भावात्मक अभिव्यक्ति को बढ़ाया। इनके योगदान से भारतीय वाद्य-संगीत को न केवल आधुनिक मंच पर नई दिशा मिली, बल्कि वैश्विक स्तर पर भी पहचान प्राप्त हुई।

संदर्भ सूची

1. गुप्त डॉ. रश्मि. स्वतंत्रोत्तर काल में सितार वादन की परम्परा एवं घराना. इलाहाबाद. अनुभव पब्लिशिंग हाउस. २०११
2. शंकर पं. रवी. राग अनुराग. अहमदनगर. मैत्रेय प्रकाशन.२०११
3. मिश्र डॉ. लालमणी. भारतीय संगीत वाद्य. नई दिल्ली. वाणी प्रकाशन ग्रुप. २०२०
4. भारद्वाज डॉ. विकास. बाँसुरी वादक पंडित पन्नालाल घोष. नई दिल्ली. कनिष्क पब्लिशिंग हाउस. २०१८